Sahitya Samhita (साहित्य संहिता)
Available at http://www.sahityasamhita.org/
ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

कोलकाता की शाम

डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय

आठ साल रहने पर भी मुझे कोलकाता की शाम एक स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, दिन और रात के बीच बारीक फाँक सरीखी लगी। क्यों कि दफ्तर बंद होते न होते रात फिर आती, इसलिए शाम को मैं वहाँ तक खींचना चाहता हूँ, जहाँ तक कोलकाता में शाम के आयोजन चलते हैं। पूर्व की यह नियति है कि सुबह और शाम दौड़ कर पकड़े बिना नहीं मिलती और पकड़ने के बाद देर तक थामे बिना महसूस नहीं होती। शरद या रवींद्र के नायक-नायिका की आँखों वाली शाम अब कहाँ रही, वह गृहस्थिन संध्या हो गई है, संबंधों के बिना अनर्थक और संबंधों के भी जाल के दो एक सिरे पकड़ने पर वह परिभाषित नहीं होती।

प्रश्नों की झड़ी लग जाती है भीतर।

कौन-सी शाम? नशे के इंजेक्शन लगाकर फुटपाथ पर लुढ़की शाम, शैम्पेन की बाहों में थिरकती पाँच सितारा शाम, विक्टोरिया के ईद-गिर्द धुँधलके में चोंच लड़ाती गलबहियाँ डोलती युवा सपनों की शाम, हाथ या पैर से रिक्शा खींचती शाम, चिपचिपाती पसीना टपकाती शाम, क्लबों स्वीमिंगपूलों की शाम, साहित्य, संगीत, चित्र, नाटक, फ़िल्म की सर्जनात्मक शाम, फुटपाथों पर ख़रीदारी के लिए टूट पड़ती शाम, वातानुकूलित बाज़ारों में इठलाती, ठगाती शाम, उस अधपगले अधेड़ की शाम जो जाने किस ज़माने से बांग्ला गीत गाता हुआ नंदन परिसर के चक्कर लगाता अपनी जवानी क़ुर्बान कर चुका है। दुर्गा उत्सव, पुस्तक मेला की भीड़ भरी शाम, यह शाम-वह शाम या इनसे अलग कोई शाम। कोलकाता की शाम बहुवचनी है। एक में अनेक - मोराज़ (फ़िल्म संग्रथन) की तरह।

अगर कहूँ कि कोलकाता का पार्श्व-राग शाम है तो ग़लत नहीं होगा। अगर शाम एक इत्मीनान है तो कोलकाता में हर कुछ इत्मीनान से होता है। शहर इत्मीनान से जागेगा, दुकान इत्मीनान से खुलेंगी। लोग दफ्तर में

ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

आराम से जाएँगे, आराम से चलेंगे 'शब्द' नहीं 'गल्प' बोलेंगे। बांग्ला में कुछ कहने को 'कोथा' शायद इसीलिए कहते हैं। आज की हड़बड़ी नहीं, जो कुछ होगा 'कल होगा' - 'काल होबे'। अगर ज़्यादा जिद करेंगे तो टका-सा जवाब पाएँगे, 'ना होबे'।

शाम अर्धनारी और अर्धपुरुष है, कोलकाता भी अर्धनारीश्वर महानगर है एक अंग से कम्यूनिज़्म का तांडव है तो दूसरे से दुर्गा उत्सव, रवींद्र संगीत का लास्य-टू-इन-वन। हैरत इस बात की है कि काल जहाँ इतनी धीमी गति से चलता है वहाँ के वासी गर्व से कहते हैं कलकत्ता जो आज सोचता है वह पूरा भारत कल सोचता है। 'भीषण सुंदर' या 'दारुण सुंदर' जैसे बांग्ला के विरोधाभासी शब्द युग्म विरोधों के सामंजस्य के प्रतीक है या विपरीतों के मिलनोत्कर्ष के? तभी तो 'वर्ग संघर्ष' के 'भीषण' के साथ अमीरी का 'सुंदर' मज़े में मिल कर रहता है। मुझे नहीं लगता कि सुरुचि, सौंदर्य, कोमलता, दर्शन, भक्ति, कल्पना, प्रेम, करुणा, उदासी जैसी भाव-राशि को कोलकाता ने वैज्ञानिक यथार्थवाद के दुर्द्धर्ष काल में भी कभी त्यागा होगा। शरद और रवींद्र कभी उसके जीवन से परे धकेले न जा सके। रवींद्र और नजरूल या सुभाष और राम कृष्ण की पूजा कोलकाता एक ही झाँकी में बराबर से कर सकता है। यही उसकी समाई है, तभी तो कोलकाता पूरे भारत का कोलाज बना हुआ है।

साँझ दो कालों और दो क्रियाओं के बीच काँपता हुआ वक्त है - धुँधलके जैसा, न स्पष्ट, न अस्पष्ट। मालवा में इसे शायद इसीलिए 'धरधरी बख्त' कहते हैं। आप चाहें तो हुगली के किनारे की शाम में अँधेरे और प्रकाश की थरथराहट सुन सकते हैं - बर्मन दा के संगीत की तरह। कोलकाता में यह शाम क्षण भर को ही सही, ज़िंदा है दूसरे महानगरों की दिन रात के तरह दो पाटों के बीच पिस नहीं गई हैं। खुद कोलकाता का स्वभाव शाम की तरह लिरिकल है - गेय। कोई भी शुभारंभ यहाँ बिना रीति के नहीं होता। आंदोलन या उग्र रैली (मिछिल) में भी जो नारे लगाए जाते हैं वे बोल कर नहीं गाकर लगाए जाते हैं। 'अन्याय अत्याचार' के नारे

ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

भी गेय हैं और उसे 'चलने न देंगे' का उद्घोष भी गेय है - 'चोलबे ना, चोलबे ना' नारा भी वे ऐसा झुलाते हुए लगाते हैं कि उसे कहीं न गद्य का झटका लगे, न ठहराव आए।

बंगाली शाम होने पर घर में भला कैसे बैठें? वैसे भी उसके पाँव घर में कहाँ टिकते हैं, तभी शायद घर की सजावट के प्रति वह संवेदनशील नहीं है। ज़रा-सी कोई छुट्टी हो, पूरा घर यात्रा पर निकल पड़ता है। बंगाल का लोक नाट्य 'जात्रा' शायद इसी बंगाली कृति से जन्मा है। और जहाँ तक साहित्यकार, कलाकार नाम के जीव का सवाल है, वह जन्म से ही 'आवारा' होता है, पहले अड्डाबाज़ी के लिए निकल पड़ता था, अब वैसी अड्डेबाज़ी संभव नहीं रही - न वैसे लोग, न समय, न शहर का वह रूप! फिर भी मिलने-जुलने, सभा-समारोह, गप्प-गोष्ठी, नाट्य-नृत्य-संगीत, की शामों को वह छोड़ता नहीं। बंगाली स्त्रियाँ तो अलबत्ता खूब सजती हैं, उनमें अपना सौंदर्य बोध जमकर है।(यह उस समय का भी तक़ाज़ा है जो उन्हें घर में मिलता है।) परंतु पुरुष अपनी समूची सादगी में यात्रा-पुरुष ही लगता है। शाम को वह जिन मेलों, प्रदर्शनियों, भाषण, संगीत के आयोजनों में जाना पसंद करता है वे प्राय: खुले में, नि:शुल्क होते हैं। नाटक, फ़िल्म वगैरह में पैसे खर्च करने में उसे कोई एतराज़ नहीं, फिर भी आम घुमंतुओं की सुविधा के लिए खुले में नुक्कड़ नाटक भी होते हैं। बादल सरकार का नुक्कड़ नाटक इसी परिवेश में पनपा-सँवरा है। यानी सिर्फ़ सोद्देश्य नहीं हुआ - कलात्मक भी हुआ है - क्यों कि देखने वाले सिर्फ़ तमाशबीन नहीं, कला पारखी हैं, आस्वादक हैं। दर्शक अगर गंभीर हो तो निर्देशक को भी गंभीर होना पड़ता है। बंगाल की सारी मुक्ताकारी कला या कला प्रदर्शन औपचारिक न होकर सहज और गहरे शायद इसीलिए हैं कि इन्हें देखने वाले कितने ही बड़े कलापारखी और कलाकार, भीड़ में होंगे -इसका बोध इन प्रस्तुतियों-प्रदर्शनों के बराबर रहा है।

कोलकाता की शाम जैसी सादगी मन को मोहती है। मैं जब भोपाल में सचिवालय में था, तो एक बार कार्यालय में कुर्ता पाजामा पहन कर चला गया: पहुँचते ही एक व्यक्ति ने पूछा - 'क्या आज छुट्टी पर हैं? इसी लिबास में आठ साल कलकत्ता में कार्यरत रहा, किसी ने यह सवाल नहीं पूछा। हैरत है कि बाबूगिरी सबसे पहले

ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

बंगाल में आई, लेकिन साहित्य, संगीत, कला का एक पूरा वर्ग ही नहीं, जन-सामान्य और राजनीति कर्मियों का भी एक पूरा का पूरा समाज बाबू नहीं बना, जबकि उत्तर भारत और मध्य भारत जो इस बाबूगिरी को गलियाता रहा, अपने शहरी परिवेश में सबसे पहले बाबू बन गया और अब सबसे अंत में भी बाबू ही रहा आया। बंगाल में अब भी सहज-अकृत्रिम अनौपचारिक मनुष्यता अपना आसन जमाए है। कहना न होगा कि अब यह केवल बंगालियों की बपौती नहीं रही है। पीढ़ियों से बंगाल में रहते-रहते अबंगाली भी भाषा-भूषा-आचरण में बंगाली हो गए हैं, कहीं-कहीं तो उनसे ज़्यादा।

समय की एकाकी प्रबलताओं को अपने अंतस में समाए शाम भी एक 'गोपन' का नाम है और बंगाल भी। वह भी अपने मूल्यवान को दबाए-ढाँपे हैं, यहाँ जो कुछ भी मूल्यवान और अप्रतिम है उसे आप सतह पर नहीं पा सकते - फिर चाहे वस्तु हो या व्यक्ति। कोलकाता का पारंपरिक और किसी हद तक वर्तमान वास्तु इसका प्रमाण है कि बाहर से देखने पर भीतर खुलने वाले भव्य और विराट का अनुमान नहीं लगा सकते। यहाँ बड़ा रचनाकार, कलाकार, नेता, गुणी, बाहर से आपको उतना ही दिखेगा जितना पानी में तैरते बर्फ़ खंड का हिस्सा दिखाई देता है। शाम ऐसे ही बर्फ़ खंड की तरह दिखती है जिसको लगभग पूरा अतीत और भविष्य आकाश-सरोवर में अंतर्निहित है।

कभी-कभी सोचता हूँ कि कोलकाता पर लिखी प्राय: सभी कविताएँ उसकी प्रशंसा और सामर्थ्य में क्यों लिखी गई हैं, जबकि दिल्ली पर लिखी कविताओं में दिल्ली के प्रति तल्ख़ी, आशंका, भय और निंदा से भरी है? शायद इसलिए कि दिल्ली में शाम की उतनी फाँक भी नहीं है। जहाँ शहर का उजाला और अँधेरा समोया जा सके।

यह कहना शायद ज़रूरी है कि कोलकाता की शाम में कविता कथाएँ, नाटक, विमर्श हो सकते हैं - परन्तु इसमें शाम नहीं है: एक ज्वलित चेतना, प्रकाश, दृष्टि प्रयोग और विवाद की ऊर्जा, कलाकार विचारक की सूझ भी वहाँ विद्यमान हैं, जो अपने समय में स्थित सर्जना और प्रतिभा की जरूरी गुण-धर्म होता है।